जैन धर्म के मूलतत्त्व

जैन धर्म का उद्‌भव और विकास

जिन के द्वारा प्रवर्तित धर्म जैन धर्म कहा जाता है और जो अपनी इन्द्रियों, वासनाओं और इच्छाओं पर विजय पा लेता है, वह जिन है। जैन धर्म का एक प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ धर्म भी है। अशोक आदि के अति प्राचीन शिलालेखों में इसका इसी नाम से उल्लेख मिलता है। निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ है— जिसके हृदय में छल-कपट, राग-द्वेष, अहंकार, लोभ आदि की कोई गाँठ नहीं है और जो आन्तरिक और बाह्य परिग्रह से मुक्त है, वही निर्ग्रन्थ है। जैन धर्म को आर्हत् धर्म भी कहते हैं। अर्हत् शब्द का अर्थ है— जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है और जो अपनी आध्यात्मिक पवित्रता के कारण जगत् का वन्दनीय बन गया, वह अर्हत् है और उसका उपासक आर्हत्। जहाँ वैदिक धर्म में यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड पर विशेष बल दिया गया वही श्रमणधर्म, विशेष रूप से जैन धर्म में तप, त्याग व वैराग्य पर अधिक बल दिया गया। अत: वैदिक धर्म को प्रवृत्तिमूलक और श्रमण धर्म को निवृत्तिमूलक धर्म भी कहते हैं। निवृत्तिमूलक धर्म का मुख्य प्रयोजन होता है— सांसारिक दु:खों से मुक्ति हेतु संन्यास के मार्ग का अनुसरण करना। इस प्रकार जैन धर्म संन्यास प्रधान या वैराग्य-प्रधान धर्म है।

मानव व्यक्तित्व में दो तत्त्व पाये जाते हैं— १. वासना और २. विवेक। मनुष्य में वासनाओं की उपस्थिति उसे दैहिक आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति की ओर अर्थात् भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि की ओर प्रेरित करती है। जबकि विवेक यह बताता है कि इच्छाएँ अनन्त हैं, उनकी पूर्ण सन्तुष्टि कभी भी सम्भव नहीं है, इसलिए शान्ति के इच्छुक मनुष्य को इच्छाओं की सन्तुष्टि की दिशा में न भागकर इच्छाओं का संयम करना चाहिए। इच्छाओं एवं वासनाओं के संयम की यही बात संन्यासमूलक जैन धर्म की उत्पत्ति का आधार है।

यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उठता है कि जैन धर्म का प्रारम्भ कब से हुआ। इसके प्रथम प्रवक्ता कौन है? जैन परम्परा के अनुसार इस कालचक्र में जैन धर्म की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। ऋषभदेव के उल्लेख ऋग्वेद एवं पुराण साहित्य में भी हैं। अत: जैन धर्म संसार का एक अति प्राचीन धर्म है। जैन परम्परा के अनुसार इस कालचक्र में संन्यासमूलक धर्म का प्रथम उपदेश भगवान् ऋषभदेव ने दिया था। श्रीमद्‌भागवत् में भी ऋषभदेव को संन्यास धर्म अर्थात् परमहंस मार्ग का प्रर्वतक कहा गया है। ऋषभदेव से पूर्व मानव समाज पूर्णत: प्रकृति पर आश्रित था। काल-क्रम में जब मनुष्यों की जनसंख्या में वृद्धि और प्राकृतिक संसाधनों में कमी होने लगी तो मनुष्यों में संचय वृत्ति का विकास हुआ तथा स्त्रियों, पशुओं और खाद्य पदार्थों को लेकर एक दूसरे से छीना-झपटी होने लगी। ऐसी स्थिति में ऋषभदेव ने सर्वप्रथम समाज-व्यवस्था एवं शासन-व्यवस्था की नींव डाली तथा कृषि एवं शिल्प के द्वारा अपने ही श्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सिखाया। किन्तु मनुष्य की बढ़ती हुई भोगाकांक्षा एवं संचय वृत्ति के कारण वैयक्तिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में जो अशांति एवं विषमता आयी, उसका समाधान नहीं हो सका। भगवान् ऋषभदेव ने यह अनुभव किया कि भोग सामग्री की प्रचुरता भी मनुष्य की आकांक्षा व तृष्णा को समाप्त करने में समर्थ नहीं है। यदि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शांति एवं समता स्थापित करनी है, तो मनुष्य को त्याग एवं संयम के मार्ग की शिक्षा देनी होगी। उन्होंने स्वयं परिवार एवं राज्य का त्याग करके वैराग्य का मार्ग अपनाया और लोगों को त्याग एवं वैराग्य की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। बस यही जैन धर्म की उत्पत्ति की कहानी है।

आगे चलकर ऋषभदेव की परम्परा में क्रमश: अन्य २३ तीर्थंकर हुए। उनमें बाईसवें अरिष्टनेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ एवं चौबीसवें भगवान् महावीर हुए। बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे और उन्होंने अहिंसा पर विशेष रूप से बल दिया। अपने विवाह के अवसर पर वैवाहिक भोज हेतु एकत्रित पशु-पक्षियों की चीत्कार सुनकर उन्होंने न केवल उन्हें मुक्त करवाया, अपितु वैवाहिक जीवन से मुख मोड़कर तप-साधना का मार्ग अपनाया और ज्ञान प्राप्त किया तथा अहिंसा और संयम का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जे धम्मे सया मनो।।

अर्थात् अहिंसा, संयम व तप रूपी धर्म ही सर्वोत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन सदैव इस धर्म में लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

तेईसवें तीर्थंकार भगवान् पार्श्वनाथ वाराणसी में उत्पन्न हुए थे, इन्होंने तप-साधना में जो आत्मपीड़न एवं परपीड़न की प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, उसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि ऐसा तप जिससे दूसरे प्राणियों को कष्ट होता हो और अपने तपस्वी होने के अहंकार की पुष्टि हो तथा जो लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये किया जाता हो, उचित नहीं है। तप का प्रयोजन तो आत्मशुद्धि होना चाहिए. अत: विवेकपूर्ण अहिंसक तप ही श्रेष्ठ है।

भगवान् पार्श्वनाथ के बाद भगवान महावीर स्वामी हुए। महावीर ने इन्द्रिय संयम के साथ-साथ ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की साधना पर अधिक बल दिया। उन्होंने पार्श्व के चार्तुयाम धर्म में ब्रह्मचर्य को जोड़कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना का उपदेश दिया। महावीर स्वामी का विशेष बल आचारशुद्धि और व्यवहार—शुद्धि पर था। उन्होंने कहा कि आचारो प्रथमोधर्म: अर्थात् आचार ही प्रथम धर्म है। व्यावहारिक जीवन हेतु उन्होंने अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह पर विशेष बल दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःख और दुःख-विमुक्ति

महाश्रमण महावीर के चिन्तन का मूल स्रोत जीवन की दुःखमयता का बोध ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में वे कहते हैं—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो।।

जन्म दुःखमय है, वृद्धावस्था भी दुःखमय है,रोग और मृत्यु भी दुःखमय है, अधिक क्या यह सम्पूर्ण सांसारिक अस्तित्व ही दुःख रूप है। संसार की दुःखमयता के इसी बोध से दुःख के कारण की खोज एवं दुःख-विमुक्ति (मोक्ष या निर्वाण) के चिन्तन का विकास हुआ है। जैन चिन्तकों ने यह माना है कि सांसारिकता में सुख नहीं है। जिसे हम सुख मान लेते हैं, वह ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार खुजली की बीमारी से पीड़ित व्यक्ति खाज को खुजलाने में सुख मान लेता है, वस्तुतः वह सुख भी दुःख रूप ही है। संसार में धनी-निर्धन, शासित-शासक सभी तो दुःखी हैं। कहा है—

धन बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कबहु न सुख या संसार में, सब जग देख्यो छान।।

संसार के इन दुःखों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— एक तो भौतिक दुःख, जो प्राकृतिक विपदाओं और बाह्य तथ्यों के कारण होते हैं और दूसरे मानसिक दुःख जो मनुष्य की आकांक्षाओं व तृष्णाओं से जन्म लेते हैं। महावीर की दृष्टि में इन समस्त भौतिक एवं मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगाशक्ति ही है। मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के द्वारा इन दुःखों के निवारण का प्रयत्न तो करता है, किन्तु वह उस कारण का उच्छेद नहीं करता जिससे दुःख प्रस्फुटित होता है, क्योंकि वह बाहर न होकर हमारी चित्तवृत्ति में होता है। संयम (ब्रह्मचर्य) और सन्तोष (अपरिग्रह) के अतिरिक्त मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। महावीर ने कहा था कि बाह्य पदार्थों से इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास वैसा ही है जैसे घृत डालकर अग्नि को शान्त करना या शाखाओं को काटकर जड़ों को पानी देने के समान है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि—

सुवण्ण-रूप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया।।

चाहे स्वर्ण व रजत के कैलाश के समान असंख्य पर्वत क्यों न खड़े कर दिये जायें, किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि इच्छा तो आकाश के समान अनन्त है। समस्त दुःखों का मूल कारण भोगाकांक्षा, तृष्णा या ममत्वबुद्धि ही है। किन्तु इस भोगाकांक्षा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं की पूर्ति नहीं है, अपितु संयम एवं निराकांक्षता ही है। यदि हम व्यक्ति को मानसिक विक्षोभों एवं तनावों से तथा मानव जाति को हिंसा एवं शोषण से मुक्त करना चाहते हैं, तो हमें अपने को संयम एवं सन्तोष की दिशा में मोड़ना होगा। भोगवादी सुखों की लालसा में दौड़ता है और उसकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। महावीर के अनुसार भोगवादी जीवनदृष्टि इच्छाओं और आकांक्षाओं को जन्म देकर हमारे वैयक्तिक जीवन में तनावों एवं विक्षोभों को उत्पन्न करती है। जिससे हमारा चैतसिक समत्व भंग होता है। वह सामाजिक जीवन में संग्रह एवं शोषण की वृत्ति को जन्म देकर सामाजिक विषमता का कारण बनती है। इसीलिए महावीर ने यह निर्देश दिया कि पदार्थों की ओर भागने की अपेक्षा आत्मोन्मुख बनो, क्योंकि जो पदार्थ या परापेक्षी होता है वह परतन्त्र होता है, किन्तु जो आत्मापेक्षी होता है वह स्वतन्त्र होता है। यदि तुम वस्तुतः तनावमुक्त होना चाहते हो तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शान्ति चाहते हो तो, आत्मकेन्द्रित बनो, क्योंकि जो पराश्रित या पर-केन्द्रित होता है, वह दुःखी होता है और जो स्वाश्रित या स्वकेन्द्रित होता है, वह सुखी होता है। आतुर-प्रत्याख्यान नामक जैन ग्रन्थ में कहा गया है कि समस्त सांसारिक उपलब्धियाँ संयोगजन्य हैं। इन्हें अपना मानने या इन पर ममत्व रखने से प्राणी दुःख परम्परा को प्राप्त होता है। अतः इन सांयोगिक उपलब्धियों के प्रति ममत्ववृत्ति का विसर्जन कर देना चाहिए। यही दुःख-विमुक्ति का एक मात्र उपाय है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जहाँ-जहाँ ममत्व है, वहाँ-वहाँ दुःख है। इच्छाओं की पूर्ति से दुःख-विमुक्ति का प्रयास ठीक वैसा ही है जैसे छलनी को जल से भरने का प्रयास। हम बाह्य जगत् में रस लेने के लिए जैसे ही उसमें अपना आरोपण करते हैं, वैसे ही एक प्रकार का द्वैत प्रकट हो जाता है। जिसमें हम अपनेपन का आरोपण करते हैं, आसक्ति रखते हैं, वह हमारे लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न या विरोधी 'पर' बन जाता है। आत्मा की समत्व के केन्द्र से यह च्युति ही उसे इन 'स्व' और 'पर' के दो विभागों में बाँट देती है। इन्हें हम क्रमशः राग और द्वेष कहते हैं। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। अपना-पराया, राग-द्वेष अथवा आकर्षण-विकर्षण के कारण हमारी चेतना में सदैव ही तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व बना रहता है, यद्यपि चेतना या आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा सदैव साम्यावस्था या संतुलन बनाने का प्रयास करती रहती है। लेकिन राग एवं द्वेष किसी भी स्थायी सन्तुलन की अवस्था को सम्भव नहीं होने देते। यही कारण है कि जैन-दर्शन में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक्-जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गई है। ममत्व व राग-द्वेष की उपस्थिति ही मानवीय पीड़ा का मूल कारण है। यदि मनुष्य को मानसिक तनावों से मुक्ति पाना है तो, इसके लिए निर्ममत्व या अनासक्ति की साधना ही एक मात्र विकल्प है।

आत्मा का बन्धन और मुक्ति

जैन धर्म के अनुसार यह संसार दुःखमय है, अतः इन सांसारिक दुःखों से मुक्त होना ही व्यक्ति का मुख्य प्रयोजन होना चाहिए। मनुष्य में उपस्थित राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही उसका वास्तविक बन्धन है और यही दुःख है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जब राग-द्वेष अथवा क्रोध, मान आदि कषायों के वशीभूत होकर कोई भी शारीरिक, वाचिक या मानसिक प्रवृत्ति करता है तो उसके परिणामस्वरूप कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है, जिसे वे आस्रव कहते हैं। जब चित्तवृत्ति में क्रोधादि कषाय विद्यमान हो तथा शरीर एवं इन्द्रियों की प्रवृत्ति असंयमित हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उसके परिणामस्वरूप कर्म का बन्ध होता है या कर्म-संस्कार बनते हैं। प्रत्येक कर्म-संस्कार कालक्रम में अपना विपाक या फल देता है और इस प्रकार कर्म और विपाक की परम्परा चलती रहती है। इस तथ्य को हम ऐसे भी समझा सकते हैं कि जब व्यक्ति द्वेष आदि के वशीभूत होकर क्रोध करता है तो उसमें क्रोध के संस्कार बनते हैं। समय-समय पर क्रोध के इन संस्कारों की अभिव्यक्ति होने से क्रोध उसकी जीवन-शैली का ही अंग बन जाता है और यही उसका बन्धन है।

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा में जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति रही हुई है, वह इन कर्म-संस्कारों के कारण कुंठित हो जाती है। आत्मिक शक्ति का कुंठित होना ही बन्धन है। कर्म का यह बन्धन आठ प्रकार का माना गया है— १. जो कर्म आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति को कुंठित करते हैं, वे ज्ञानावरण कहलाते हैं, २. जिनके द्वारा आत्मा की अनुभूति सामर्थ्य सीमित होती है, उसे दर्शनावरण कहते हैं, ३. जिसके द्वारा सुख–दुःख की अनुभूति होती है, वे वेदनीय कर्म हैं, ४. जिन कर्म-संस्कारों के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण एवं चारित्र दूषित हो उसे मोहनीय-कर्म कहा गया है। ५. जो कर्म हमारे व्यक्तित्व या चैत्तसिक एवं शारीरिक संरचना के कारण होते हैं, उन्हें नामकर्म कहते हैं, ६. जिन कर्मों के कारण व्यक्ति को अनुकूल व प्रतिकूल परिवेश उपलब्ध होता है, वह गोत्रकर्म है, ७. इसी प्रकार जो कर्म एक शरीर विशेष में हमारी आयु मर्यादा को निश्चित करता है, उसे आयुष्यकर्म कहते हैं। ८. अन्त में जिस कर्म द्वारा हमें प्राप्त होने वाली उपलब्धियों में बाधा हो वह अन्तराय-कर्म है।

जैन दर्शन के अनुसार इन कर्मों के वश होकर प्राणी संसार में जन्म-मरण करता है और सांसारिक सुख-दुःख की अनुभूति करता है।

जैन धर्म का प्रयोजन आत्मा को इस कर्म-मल से मुक्त कर विशुद्ध बनाना है। इसके लिए संवर का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार कमरे की खिड़कियाँ खुली रहने पर उसमें धूल के आगमन को नहीं रोका जा सकता है, उसी प्रकार जब आत्मा की इन्द्रियाँ रूपी खिड़कियाँ खुली हों तो, उसमें कर्म-रज रूपी मल के आगमन को रोका नही जा सकता है। अतः आत्मविशुद्धि के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति इन इन्द्रियरूपी खिड़कियों को बन्द करें अर्थात् इन्द्रियों का संयम करें। जैन धर्म में इन्द्रिय संयम का मतलब यह नहीं हं कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही न होने दी जाये। महावीर स्वामी ने कहा था कि इन्द्रियों एवं उनके विषयों की उपस्थिति की दशा में इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो, यह सम्भव नहीं है। संयम का तात्पर्य है इन ऐन्द्रिक विषयों की अनुभूति की दशा में हमारा चित्त राग-द्वेष की वृत्ति से आक्रान्त न हो। सतत् अभ्यास द्वारा जब ऐन्द्रिक अनुभूतियों में चित्त अनासक्त रहना सीख जाता है तो संयम की साधना सफल होती है।

जब तक चित्त में पुराने कर्म-मल उपस्थित हैं तब तक आध्यात्मिक विशुद्धि सम्भव नहीं। इसके लिए जैन धर्म में निर्जरा की बात कही गयी है। निर्जरा का अर्थ है कर्म-मल को अलग कर देना या झाड़ देना। आत्मा पर लगे कर्म-मल को अलग करने का प्रयत्न ही निर्जरा है। जिस प्रकार कमरे की सफाई के लिए यह आवश्यक है कि पहले तो हम कमरे की खिड़कियाँ बन्द कर दें, ताकि बाहर से धूल न आये, किन्तु पूर्व की उपस्थित धूल या मल की सफाई के लिए कमरे को झाड़ना भी आवश्यक होता है, उसी प्रकार आत्मा में जो गंदगी है उसे दूर करने के लिए निर्जरा आवश्यक है। जैन धर्म के अनुसार निर्जरा के द्वारा ही आत्मा के पूर्व संचित कर्म-मल का शोधन सम्भव है। निर्जरा का दूसरा नाम 'तप-साधना' है। कहा गया है कि तप के द्वारा आत्मा करोड़ों भवों के पूर्व संचित कर्मों को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार शुद्ध घी को प्राप्त करने के लिए हमें मक्खन को किसी बर्तन में रखकर तपाना होता है, उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिये उसे भी शरीर रूपी भोजन के द्वारा तपाना होता है। जैन धर्म में तपस्या का मतलब शरीर को कष्ट देना नहीं अपितु शरीर के प्रति रागात्मकता या ममत्वबुद्धि को दूर करना है। इसीलिए आत्मा की देहासक्ति को तोड़ने का जो प्रयत्न है, वही तपस्या है। यह सत्य है कि सभी दुराचरणों का मूल कारण व्यक्ति की ममता या आसक्ति है, इस आसक्ति में भी देहासक्ति सबसे घनीभूत होती है। इसे समाप्त करने के लिए ही जैन धर्म में अनशन आदि बाह्य तपों और स्वाध्याय आदि आन्तरिक तपों का विवेचन किया गया है।

जब तपस्या द्वारा आत्मा की आसक्ति और कर्म-मल समाप्त हो जाते हैं तो आत्मा की अनन्त ज्ञान आदि क्षमताएँ प्रकट हो जाती हैं। आसक्ति और कर्म-मल का क्षय होकर आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटन ही जैन धर्म में मुक्ति या निर्वाण है। इसे ही परमात्मदशा की प्राप्ति भी कहते हैं। जब आत्मा कर्म-मल से रहित पूर्ण निर्ममत्व एवं निरावरण अवस्था को प्राप्त कर लेता है और अपने आत्म स्वरूप में लीन हो जाता है, तो वही परमात्मा बन जाता है। आत्मा को परमात्मा की अवस्था तक पहुँचाना ही जैन साधना का मूल प्रयोजन है।

आत्मा और परमात्मा

आत्मा की विभावदशा अर्थात् उसकी विषय-वासनाओं में आसक्ति या रागभाव ही उसका बन्धन है। अपने इस रागभाव, आसक्ति या ममता को तोड़ने का जो प्रयास है, वह साधना है और उस आसक्ति, ममत्व या रागभाव का टूट जाना ही मुक्ति है, यही आत्मा का परमात्मा बन जाना है। जैन साधकों ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—

१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा।

सन्त आनन्दघन जी कहते हैं—

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, बहिरातम अध-रूप सुज्ञानी।
बीजो अन्तर आतमा तीसरो परमातम अविच्छेद सुज्ञानी।।

विषय-भोगों में उलझा हुआ आत्मा बहिरात्मा है। संसार के विषय-भोगों से उदासीन साधक अन्तरात्मा है और जिसने अपनी विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लिया है, जो विषय-विकार से रहित अनन्त चतुष्टय से युक्त होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित है, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मा है।

आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कहा गया है—

'अप्पा सो परमप्पा'।

आत्मा ही परमात्मा है।

प्रत्येक प्राणी/ प्रत्येक चेतनसत्ता परमात्मा स्वरूप है।

मोह और ममता के कोहरे में हमारा वह परमात्म स्वरूप छुप गया है। जैसे बादलों के आवरण में सूर्य का प्रकाशपुंज छिप जाता है और अन्धकार घिर जाता है, उसी प्रकार मोह-ममता और राग-द्वेष रूपी आवरण से आत्मा का अनन्त आनन्द स्वरूप तिरोहित हो जाता है तथा जीव दु:ख और पीड़ा से भर जाता है।

आत्मा और परमात्मा में स्वरूपत: भेद नहीं है। धान और चावल एक ही है, अन्तर मात्र इतना है कि एक आवरण सहित है और दूसरा निरावरण। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही है, फर्क केवल कर्म रूप आवरण का है।

जिस प्रकार धान के सुमधुर भात का आस्वादन तभी प्राप्त हो सकता है जब उसका छिलका उतार दिया जावे, उसी प्रकार अपने ही परमात्मस्वरूप की अनुभूति तभी सम्भव है, जब हम अपनी चेतना से मोह-ममता और राग-द्वेष की खोल को उतार फेकें। छिलके-सहित धान के समान मोह-ममता की खोल में जकड़ी हुई चेतना बद्धात्मा है और छिलके-रहित शुद्ध शुभ्र चावल के रूप में निरावरण शुद्ध चेतना परमात्मा है। कहा है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोय सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझे बिरला कोय।।

मोह-ममता रूपी परदे को हटाकर उस पार रहे हुए अपने ही परमात्मस्वरूप का दर्शन सम्भव है। हमें प्रयत्न परमात्मा को पाने का नहीं, इस परदे को हटाने का करना है, परमात्मा तो उपस्थित है ही। हमारी गलती यही है कि हम परमात्मस्वरूप को प्राप्त करना तो चाहते हैं, किन्तु इस आवरण को हटाने का प्रयास नहीं करते। हमारे प्रयत्नों की दिशा यदि सही हो तो अपने में ही निहित परमात्मा का दर्शन दूर नहीं है। हमारा दुर्भाग्य तो यही है कि आज स्वामी ही दास बना हुआ है। हमें अपनी क्षमता का अहसास ही नहीं है। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

इन्सा की बदबख्ती अंदाज से बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बंदा नज़र आता है।।

जैन धर्म में परमात्मा की अवधारणा एक आदर्श पुरुष के रूप में की गयी है। परमात्मा न तो किसी को मुक्ति देता है और न दण्ड ही। परमात्मा की स्तुति का प्रयोजन मात्र अपने शुद्ध स्वरूप का बोध करना है। जैन दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते है—

अज-कुल-गत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहार।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतम शक्ति संभार।।

जिस प्रकार अज कुल में पालित सिंहशावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक परमात्मा के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान् की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी बनती है। फिर भी जैन मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रर्थना करना, जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से दीन, हीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा, तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल परमात्मा की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे। मुक्ति या परमात्मदशा की प्राप्ति के लिये साधना अपेक्षित है।

त्रिविध साधनामार्ग

जैनदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधनामार्ग बताया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चरित्र और सम्यग्तप ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का भी विधान है, किन्तु जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भावचारित्र में करके इस त्रिविध साधनामार्ग को ही मान्य किया है।

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधनामार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता में नहीं गिरते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है और सम्यक्-आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंगों का होना आवश्यक हैं।

सम्यग्दर्शन

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन आत्म-साक्षात्कार, तत्त्वश्रद्धा, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए है। सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थ-श्रद्धा, उसमें वास्तविकता की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं होता है। अन्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वत: प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु दूसरा वैज्ञानिकों के कथनों पर विश्वास करके वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यद्यपि यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने स्वानुभूति से पाया है तो दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। श्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ स्वानुभूति ही है और यही सम्यग्दर्शन का वास्तविक अर्थ है। ऐसा सम्यग्दर्शन होता है निर्विकार, निराकुल चित्तवृत्ति से।

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन के निम्न पाँच लक्षण बताये गये हैं— १. सम अर्थात् समभाव, २. संवेग अर्थात् आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति अथवा सत्याभीप्सा, ३. निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य, ४. अनुकम्पा अर्थात् दूसरे व्यक्ति की पीड़ा को आत्मवत् समझना और उसके प्रति करुणा का भाव रखना तथा ५. आस्तिक्य अर्थात् पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना।

जिस प्रकार बौद्ध साधना के अनुसार दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख से निवृत्ति हो सकती है और दु:खनिवृत्ति का मार्ग है--इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार जैन साधना के अनुसार षट् स्थानों (छह बातों) की स्वीकृति सम्यग्दर्शन है— (१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है, (४) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय (मार्ग) है। जैन तत्त्व-विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति, सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर है, ये षट्स्थानक जैन साधना के केन्द्र बिन्दु हैं।

सम्यग्ज्ञान

दृष्टिकोण की विशुद्धि पर ही ज्ञान की सम्यक्त निर्भर करती है। अत: जैन साधना का दूसरा चरण है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है। जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान के दो रूप पाये जाते हैं। सामान्य दृष्टि से सम्यग्ज्ञान वस्तुतत्त्व का उसके अनन्त पहलुओं से युक्त ज्ञान है और इस रूप में वह विचार शद्धि का माध्यम है। जैन दर्शन के अनुसार एकांगी ज्ञान मिथ्यात्व है, क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है। जब तक आग्रहबुद्धि है तब तक वीतरागता सम्भव ही नहीं है और जब तक वीतराग दृष्टि नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी असम्भव है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य के अनन्त पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य शर्त है। एकान्त दृष्टि या वैचारिक आग्रह अपने में निहित राग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है। अत: एकान्त और आग्रह सत्य के साक्षात्कार में बाधक हैं। जैन साधना की दृष्टि से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग एवं अनाग्रही दृष्टि का निर्माण आवश्यक है और इसके माध्यम से प्राप्त ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान का अर्थ है— वस्तु को उसके अनन्त पहलुओं से जानना।

जैन धर्म में सम्यग्ज्ञान का अर्थ आत्म-अनात्म का विवेक भी है। यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, उसे ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता, अत: आत्मज्ञान दुरूह है। लेकिन अनात्म तत्त्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? और इससे वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो उसके ज्ञान के विषय हैं, वे उसके स्वस्वरूप नहीं है, वे अनात्म हैं। सम्यग्ज्ञान आत्म-ज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना, भेद-विज्ञान है और यही जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान का मूल अर्थ है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद-विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे इस आत्म-अनात्म के विवेक या भेद-विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद-विज्ञान का अत्यन्त गहन विवेचन किया है।

सम्यक्चारित्र

जैन परम्परा में साधना का तीसरा चरण सम्यक्चरित्र है। इसके दो रूप माने गए हैं— १. व्यवहारचारित्र और २. निश्चयचारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहारचारित्र कहे जाते हैं। जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चयचारित्र कही जाती है। जहाँ तक व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मकचारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है। निश्चय दृष्टि (Real view point) से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। वस्तुत: चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गए हैं। चेतना में जब राग-द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती है, तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है।

व्यवहारचारित्र का सम्बन्ध आचार के नियमों के परिपालन से है। व्यवहारचारित्र को सर्वव्रती और देशव्रतीचारित्र—ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रतीचारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ उपासकों से और सर्वव्रतीचारित्र का सम्बन्ध श्रमण वर्ग से है। जैन परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, षट्कर्म, बारह व्रत और ग्यारह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिमाओं का पालन आता है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, रात्रि भोजन-निषेध, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, बाईस परीषह, अट्ठाईस मूलगुण, बावन अनाचार आदि का विवेचन उपलब्ध है। किन्तु इस सबके मूल में अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह की साधना ही मुख्य है।

जैन धर्म के केन्द्रीय तत्त्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

जैन धर्म में सम्यक्चारित्र की दृष्टि से अहिंसा और अनासक्ति ये दो केन्द्रीय सिद्धान्त हैं। वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा और अनासक्ति मिलकर अनाग्रह या अनेकान्तवाद को जन्म देते हैं। आग्रह वैचारिक आसक्ति है और एकान्त वैचारिक हिंसा। अनासक्ति का सिद्धान्त ही अहिंसा से समन्वित हो सामाजिक जीवन में अपरिग्रह का आदेश प्रस्तुत करता है। संग्रह वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में आसक्ति और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में हिंसा है। इस प्रकार जैन दर्शन सामाजिक नैतिकता के तीन केन्द्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है—१. अहिंसा, २. अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) और ३. अपरिग्रह (असंग्रह)। सम्यग्आचरण एक प्रकार से जीवन शुद्धि का प्रयास है, अतः मानसिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनासक्ति (अपरिग्रह), वाचिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनेकान्त (अनाग्रह) और कायिक कर्मों की शुद्धि के लिए अहिंसा के पालन का निर्देश किया गया है। जैन दर्शन का सार इन्हीं तीन सिद्धान्तों में निहित है। जैन धर्म की परिभाषा करने वाला यह श्लोक सर्वाधिक प्रचलित ही है—

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यं पीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते।।

सच्चा जैन वही है जो पक्षपात (समत्व) से रहित है, अनाग्रही और अहिंसक है।

अहिंसा

अहिंसा जैन आचार दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घुमती है। जैनगामों में अहिंसा को भगवती कहा गया है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है। वह शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश तीर्थंकर करते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है— भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, पूत, जीव और सत्त्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है। सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार ज्ञानी होने के सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसको प्रथम स्थान दिया है। अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। वस्तुतः अहिंसा जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभाव एवं अद्वैतभाव है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्तव्य को जन्म देता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तराध्ययनसूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा गया है कि भय और वैर से मुक्त साधक, जीवन की इच्छा रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जान कर उनकी कभी भी हिंसा न करे। इस प्रकार जैन धर्म में अहिंसा का आधार आत्मवत् दृष्टि ही है। आज विश्व शान्ति का एक मात्र विकल्प अहिंसा की समवेत साधना है। महावीर ने कहा था— 'शस्त्र एक से बढ़ कर एक हो सकते हैं, किन्तु अहिंसा (अशस्त्र) से बढ़कर कुछ नहीं है।

अनाग्रह

अनाग्रह या अनेकान्त का सिद्धान्त वैचारिक अहिंसा है। अनाग्रह अपने विचारों की तरह दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है। वह उस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे पास है, दूसरे के पास नहीं हो सकता। वह हमें यह बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरे के पास भी। सत्यता का बोध हमें ही हो सकता है, केवल दूसरों को सत्य का बोध नहीं हो सकता— यह कहने का हमें अधिकार नहीं है। सत्य का सूर्य न केवल हमारे घर को प्रकाशित करता है, वरन् दूसरों के घरों को भी प्रकाशित करता है। वस्तुतः वह सर्वत्र प्रकाशित है। जो भी उन्मुक्त दृष्टि से उसे देख पाता है, वह उसे पा जाता है। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का है। जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है कि जीवन जहाँ कहीं हो, उसका सम्मान करना चाहिए, उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है कि सत्य जहाँ भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए। वस्तुतः पक्षाग्रह की धारणा से विवाद का जन्म होता है। व्यक्ति जब स्व-मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करता है, तो परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में संघर्ष का प्रादुर्भाव हो जाता है। वैचारिक आग्रह न केवल वैयक्तिक विकास को कुण्ठित करता है, वरन् सामाजिक जीवन में विग्रह, विषाद और वैमनस्य के बीज बो देता है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं संसारचक्र में भटकते रहते हैं। वस्तुतः जहाँ भी आग्रहबुद्धि होगी, विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन नहीं होगा और जो विपक्ष में निहित सत्य नहीं देखेगा, वह सम्पूर्ण सत्य का द्रष्टा नहीं होगा। जैनधर्म के अनुसार सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है। सत्य का साधक वीतराग और अनाग्रही होता है। जैन धर्म अपने अनेकान्त के सिद्धान्त के द्वारा एक अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है, ताकि वैचारिक एवं धार्मिक असहिष्णुता को समाप्त किया जा सके।

अनासक्ति

व्यक्ति के अन्दर निहित आसक्ति दो रूपों में प्रकट होती हैं— १. संग्रह-भावना और २. भोग-भावना। संग्रह-भावना और भोग-भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति बाह्यतः तीन रूपों में प्रकट होती है— १. अपहरण (शोषण), २. भोग और ३. संग्रह। आसक्ति के तीन रूपों का निग्रह करने के लिए जैन आचार दर्शन में अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का विधान है। संग्रहवृत्ति का अपरिग्रह से, भोगवृत्ति का ब्रह्मचर्य से और अपहरणवृत्ति का अस्तेय महाव्रत से निग्रह होता है। जैन आचार्यों ने जिस अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसके मूल में यही अनासक्ति की जीवन दृष्टि कार्य कर रही है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, तथापि उसका प्रकटन बाह्य है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः आसक्ति के प्रहाण के लिए व्यावहारिक रूप में परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है।

परिग्रह या संग्रहवृत्ति सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न है, क्योंकि बिना हिंसा (शोषण) के संग्रह असम्भव है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। अनासक्ति को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि मनुष्य बाह्य-परिग्रह का भी त्याग या परिसीमन करे। परिग्रह-त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में दिया गया प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं है। यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसे बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकट होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। इसके बिना आध्यात्मिक उपलब्धि भी सम्भव नहीं। अतः जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से अपरिग्रह को अनिवार्य तत्त्व माना है।

इस प्रकार वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनेकान्त और व्यवहार में अहिंसा जैन साधना का सार हैं। जैन साधक सदैव ही यह प्रार्थना करता है—

सत्वेषु मैत्री, गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदाममात्मा विद्धातु देव।।

हे प्रभु! मेरे हृदय में प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति समादरभाव, दुःखियों के प्रति करुणाभाव और विरोधियों के प्रति मध्यस्थ भाव बना रहे।

•

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org